

# श्रीगोम्मटसारजी कर्मकांड - टीका शुद्धि

प्रथम चार अधिकार

(मात्र विद्वद्गर्ग के लिए)

विकास जैन (छाबड़ा), इंदौर, 7000676108

श्रीगोम्मटसारजी आचार्य श्रीनेमिचंद्र सिद्धांत-चक्रवर्ती द्वारा विरचित अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें गुणस्थान, मार्गणास्थान और कर्म के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ अत्यंत गूढ़ है। इसकी गूढ़ता का अंदाजा आप इस बात से लगा सकते हैं कि धवल की 16 पुस्तक और महाबंध की 7 पुस्तकों का सार लेकर केवल जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड जैसे दो ग्रंथों में आचार्य महाराज ने भर दिया है। इस मूल ग्रन्थ का मर्म समझना टीका का सहारा लिए बिना कठिन है।

इसकी प्रथम 'मंदप्रबोधिनी' नामक टीका आचार्य श्रीअभयचन्द्र सूरी द्वारा संस्कृत भाषा में की गई थी जो अपूर्ण ही प्राप्त होती है। इसकी दूसरी टीका 'जीवतत्त्व-प्रदीपिका' श्रीकेशव वर्णी के द्वारा कर्नाट भाषा में लिखी गई है। इसी के आधार से इसकी संस्कृत टीका श्री नेमिचंद्र के द्वारा की गयी है। श्रीअभयचन्द्र सूरी और केशव वर्णीजी ने अपूर्व विद्वत्ता के द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ के हार्द को खोल दिया है। उसके पश्चात् श्री नेमिचंद्र मुनिराज ने भी इसका संस्कृत रूपांतर करके इसे सर्वजन ग्राही बना दिया। काल दोष से बुद्धि की अल्पता देखते हुए पंडित श्री टोडरमलजी द्वारा इसकी दूंदारी भाषा में भाषा टीका की गयी जिसका नाम है 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका'। इस भाषा टीका के कारण ही गोम्मटसार ग्रन्थ लगभग 300 वर्षों पूर्व पुनर्जीवित हुए और जन-जन गोम्मटसार ग्रन्थ से परिचित हो पाया। इसके पश्चात् कर्नाट वृत्ति, संस्कृत टीका का अनुवाद करते हुए भाषा टीका के अवलंबनपूर्वक पंडित आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एवं पंडित कैलाशचंदजी शास्त्री द्वारा हिंदी टीका रची गयी जो ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई। इसके अलावा विदुषी डॉ. श्रीमती उज्वलाजी शहा द्वारा टोडरमलजी द्वारा रचित सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका का भी शब्दशः हिंदी अनुवाद किया गया।

इस सभी आचार्यवृंद का, विद्वद्गर्ग का हम सभी पर अनन्य उपकार है, इनकी श्रुतभक्ति अपूर्व है, इन सभी का ज्ञान अगाध है। वास्तव में हम इन सभी के उपकार के बिना कभी गोम्मटसार ग्रन्थ के मर्म तक नहीं पहुंच पाते। हम सभी आपके ऋणी हैं।

इसकी गंभीर, विशद टीका निर्दोष है परन्तु कुछ स्थानों पर मूल-टीका अथवा भाषाटीका अथवा दोनों ही टीकाएँ त्रुटित हो गई हैं जो आगम से मेल नहीं खाती है। इस लेख का उद्देश्य उन त्रुटियों को ठीक करना है जिससे ग्रन्थ एवं टीका का वाचन, अध्ययन निर्दोष हो जाए; श्रुत की परंपरा निर्दोष बनी रही आये। किसी भी आचार्य, टीकाकार, विद्वान आदि पर दोषारोपण करना, अथवा ख्याति, लाभ आदि की आकांक्षा से यह लेख नहीं लिखा गया है। इस लेख में कोई भी दोष हो तो कृपया सुधीजन मार्गदर्शन करें।

लेख में कथित टीकाकार आदि शब्दों से ये पद निर्दिष्ट हैं —

टीका	कर्नाटवृत्ति और संस्कृत टीका
टीकाकार	कर्नाटवृत्ति और संस्कृत टीकाकार
भाषा टीका	सम्यग्ज्ञान चंद्रिका
भाषा टीकाकार	पं. टोडरमलजी
हिंदी टीका	ज्ञानपीठ से प्रकाशित गोम्मटसार जीवकांड
हिंदी टीकाकार	पं. कैलाशचंद्रजी, पं. आ. ने. उपाध्ये

## गाथा 26

इस गाथा में बताया है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूपी यंत्र के द्वारा मिथ्यात्व का द्रव्य तीन भागों में विभाजित हो जाता है। इसकी टीका के अंतर्गत विस्तार के साथ इसकी प्रक्रिया बताई है। इसके तीन भाग होने का प्रारंभ बताते हुए लिखा है कि —

..इदं प्रथमोपशमसम्यक्त्वकालांतमुहूर्तस्य प्रथमसमयात्प्रभृति चरमसमयपर्यंतं प्रतिसमयं गुणसंक्रमभागहारेण अपकृष्यापकृष्य असंख्यातगुणहीनक्रमेण मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वप्रकृतिरूपेण त्रिपुंजीकरोति...

अर्थ: प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल अन्तर्मुहूर्त के प्रथम से लेकर अन्तिम समय पर्यन्त प्रतिसमय गुणसंक्रम भागहार के द्वारा उस मिथ्यात्व के द्रव्य को अपकर्षण कर-करके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप से तीन पुंज करता है।

टीका में कहा है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय से अन्तिम समय तक गुणसंक्रमण होता है। परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पूरे काल में गुणसंक्रमण नहीं होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय से अन्तर्मुहूर्त काल तक गुणसंक्रमण पाया जाता है जिससे मिथ्यात्व का द्रव्य मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिरूप होता है। उसके पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व तो बना रहता है, परन्तु संक्रमण का प्रकार गुण संक्रमण से बदलकर विध्यात संक्रमण हो जाता है। ऐसा कथन लब्धिसार में स्पष्टता के साथ कहा है यथा —

### लब्धिसार गाथा 81

पढमादो गुणसंकमचरिमो त्ति य सम्ममिस्ससम्मिस्से ।

अहिगदिणाऽसंखगुणो विज्झादो संकमो त्तो ॥११ ॥

अन्वयार्थ — प्रथमोपशम सम्यक्त्व के (पढमादो) प्रथम समय से लेकर (गुणसंकमचरिमोत्ति य) गुणसंक्रमण के अन्तिम समय पर्यन्त (अहिगदिणा) सर्प की चाल से (असंखगुणो) असंख्यातगुणित मिथ्यात्वद्रव्य (सम्ममिस्ससम्मिस्से) सम्यक्त्व, मिश्र, पुनः सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृतिरूप से परिणमता है। (त्तो) उसके पश्चात् (विज्झादोसंकमो) विध्यातसंक्रमण होता है ॥११॥

कोई शंका करे कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय से अंत तक तो गुणसंक्रमण ही होता है उसके पश्चात् विध्यात संक्रमण प्रारंभ होता है ऐसा इस गाथा में कहा है । उसके निराकरण में इसी के आगे दिए हुए अल्प-बहुत्व से पता लगता है कि गुणसंक्रमण का काल अल्प है, प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल अधिक है अतः पूरे प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अंतर्गत गुण संक्रमण नहीं चला करता ।

तत्तो पढमो अहिओ पूरणगुणसेढिसीसपढमठिदी ।

संखेण य गुणियकमा उवसमगद्धा विसेसहिया ॥१४ ॥

अन्वयार्थ— (तत्तो) उससे (अंतिम स्थितिकांडकोत्कीरणकाल की अपेक्षा) (पढमो) प्रथम स्थितिकांडकोत्कीरणकाल (अहिओ) अधिक है । उससे (पूरणगुणसेढिसीसपढमठिदी) गुणसंक्रमण-पूरणकाल, गुणश्रेणिशीर्ष व प्रथमस्थिति (संखेण य गुणियकमा) क्रम से संख्यातगुणित हैं । उससे (उवसमगद्धा) उपशमकरणकाल (विसेसहिया) विशेष अधिक है । ॥१४॥

अणियट्टी संखगुणो णियट्टिगुणसेढियायदं सिद्धं ।

उवसंतद्धा अंतर अवरवराबाह संखगुणियकमा ॥१५ ॥

अन्वयार्थ— (अणियट्टी संखगुणो) अनिवृत्तिकरण का काल संख्यातगुणा है। उससे (णियट्टिगुणसेढियायदं सिद्धं) अपूर्वकरण का काल व गुणश्रेणीआयाम संख्यातगुणा है यह बात सिद्ध है । गुणश्रेणीआयाम से (उवसंतद्धा) उपशम सम्यक्त्व का काल, (अंतर) अंतरायाम, (अवरवराबाह) जघन्य आबाधा और उत्कृष्ट आबाधा (संखगुणियकमा) क्रम से संख्यातगुणित है ।

इन गाथाओं में गुणसंक्रमण का स्थान नवे स्थान पर है । उसके पश्चात् सोलहवे स्थान पर उपशम सम्यक्त्व का काल दिया है जो कि गुणसंक्रमण के काल से पाँच बार संख्यात गुणा है । इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण उपशम सम्यक्त्व के दौरान गुणसंक्रमण नहीं हुआ करता । मात्र प्रारंभ के अंतर्मुहूर्त में गुणसंक्रमण होता है, उसके बाद विध्यात संक्रमण प्रारंभ होता है । अतः टीकाकार का यह कथन युक्त नहीं है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय से अंतिम समय तक गुणसंक्रमण होता है । इसके स्थान पर ऐसा कहना चाहिए — “प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय से लेकर गुणसंक्रमण पूरण काल तक अंतर्मुहूर्त पर्यंत गुणसंक्रमण भागहार के द्वारा मिथ्यात्व के परमाणुओं का अपकर्षण करके उसके तीन पुंज करता है ।”

## गाथा 27

इस गाथा में शरीरों के साथ अन्य शरीरों के संयोग कैसे और कितने करने हैं इसका निर्देश किया है ।

तेजाकम्मेहिं तिए, तेजा कम्मेण कम्मणा कम्मं ।

कयसंजोगे चदुचदु-चदुदुग एक्कं च पयडीओ ॥ 27 ॥

अर्थ—तैजस और कार्मण के साथ-साथ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक का आपस में संबंध करने से चार-चार भेद होते हैं । तीनों के मिलकर 12 भेद हो जाते हैं । तथा कार्मण के साथ तैजस के

संयोग से दो भेद और कार्मण के साथ कार्मण का संयोग होने से एक भेद— इस तरह सब मिलकर 15 भेद होते हैं ।

अब यहाँ प्रश्न है कि यह 15 भेद किसके किये गए हैं । क्या यह शरीर नामकर्म के भेद हैं या किसी और कर्म के । टीकाकार ने इन भेदों को शरीर नामकर्म के भेद बताया है । इस गाथा के पूर्व टीका में बताया गया अंतिम कर्म शरीर नामकर्म है और उसके पश्चात् ही यह गाथा प्रस्तुत की है । इसकी उत्थानिका में कहा है कि “इन पाँच शरीरों के भंग कहते हैं —” । टीका में गाथा का अर्थ कर देने के पश्चात् आगे के कर्म — बंधन नामकर्म को बताया गया है । याने टीकाकार इन भंगों को शरीर नामकर्म के ही भेद मानते हैं ।

भाषा टीकाकार ने टीका के अनुसार इन्हें शरीर नामकर्म के भेद मानते हुए कुछ और स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है । यथा — “यहाँ शरीर के परस्पर संयोग भेद कहे हैं । जैसे चक्रवर्ती के औदारिक शरीर से दूसरा औदारिक शरीर बना तो उसका नाम औदारिक-औदारिक शरीर है । ऐसे ही यथासंभव और भी भेद जानना ।” इस प्रकार से औदारिक-औदारिक भेद तो बन गया पर औदारिक से तैजस का, कार्मण का, तैजस-कार्मण का आदि और अन्य भेद कैसे बनेंगे ? कुछ विद्वानों ने इसे अपने विचारों से सुलझाते हुए कैसे आहारक से आहारक निकलेगा, कैसे देवों के वैक्रियिक से भी तैजस शरीर निकलता है, इत्यादि विचार दिए । पर उनमें भी सभी भंग बैठाने में काफी समस्याएं आती थी । लंबे समय तक हम भी वैसा ही मानते थे परन्तु अनेक प्रश्न अनुत्तरित रहते थे । यह एक बहुत बड़ी अनसुलझी गुत्थी थी कि सभी शरीरों के संयोगों के समीचीन उदाहरण क्या होंगे ? यह गाथा वास्तव में शरीरों के भेद बता रही है या कुछ और ?

जब हम धवल पुस्तकों की वाचना ब्र. सुजाता ताई रोटे, कुम्भोज बाहुबली के सान्निध्य में कर रहे थे तब चौदहवी पुस्तक की वाचना के दौरान ताई ने ध्यान दिलाते हुए बताया कि ये कर्म के भंग वास्तव में शरीर नामकर्म के नहीं हैं बल्कि बंधन नामकर्म के हैं । और उनका स्पष्टीकरण भी वहाँ मूल सूत्रों और टीका में दिया है । धवल पुस्तक 14, पृष्ठ 41-44 में आचार्य भूतबलि स्वामी ने बंधन के सूत्र दिए हैं जो इस प्रकार हैं —

जो सो सरीरबंधो णाम सो पंचविहो— ओरालियसरीरबंधो वेउव्वियसरीरबंधो आहारसरीरबंधो तेयासरीरबंधो कम्मइयसरीरबंधो चेवडि ॥४४॥

संपहि एगादिसंजोगे ओरालियसरीरस्स बंधवियप्पुप्पायणट्टमुत्तरसुत्तं भणदि

ओरालिय-ओरालियसरीरबंधो ॥ ४५ ॥

ओरालियसरीरकम्मखंधाणमण्णेहि ओरालियसरीरणोकम्मक्खंधेहि जो बंधो सो ओरालिय-

ओरालियसरीरबंधो । एवमेसो एगसंजोगेण एक्को चेव भंगो होदि ? । संपहि

दुसंजोगभंगपरूवणट्टमुत्तरसुत्तं भणदि—

ओरालिय-तेयासरीरबंधो ॥ ४६ ॥

ओरालियसरीरपोग्गलाणं तेयासरीरपोग्गलाणं च एक्कम्हि जीवे जो परोप्परेण बंधो सो ओरालिय-  
तेयासरीरबंधो णाम १ ।

ओरालिय-कम्मइयसरीरबंधो ॥ ४७ ॥

ओरालियखंधाणं कम्मइयखंधाणं च एक्कम्हि जीवे ढिदाणं जो बंधो सो ओरालिय-कम्मइयसरीरबंधो  
णाम २ । ...

ओरालिय-तेया-कम्मइयसरीरबंधो ॥ ४८ ॥

ओरालिय-तेया-कम्मइयसरीरखंधाणं एक्कम्हि जीवे णिविद्धाणं जो अण्णोण्णेण बंधो सो ओरालिय-तेया-  
कम्मइयसरीरबंधो णाम । एवं तिसंजोगे एक्को चेव भंगो १ । संपहि वेउव्वियसरीरस्स  
एगादिसंजोगभंगपरूवणट्टमुत्तरसुत्तं भणदि—

वेउव्विय-वेउव्वियसरीरबंधो ॥ ४९ ॥ वेउव्विय-तेयासरीरबंधो ॥ ५० ॥ वेउव्विय-कम्मइयसरीरबंधो ॥ ५१  
॥ वेउव्विय-तेया-कम्मइयसरीरबंधो ॥ ५२ ॥

एदाणि चत्तारि वि सुत्ताणि सुगमाणि । आहारसरीरभंगपरूवणट्टमुत्तरसुत्तं भणदि—

आहार-आहारसरीरबंधो ॥ ५३ ॥ आहार-तेयासरीरबंधो ॥ ५४ ॥ आहार-कम्मइयसरीरबंधो ॥ ५५ ॥

आहार-तेया-कम्मइयसरीरबंधो ॥ ५६ ॥

एवाणि चत्तारिवि सुत्ताणि सुगमाणि ।

तेया-तेयासरीरबंधो ॥ ५७ ॥ तेयासरीर-कम्मइयसरीरबंधो ॥ ५८ ॥

सेसभंगा एत्थ किण्ण परूविदा ? ण, पुणरूत्तदोसप्पसंगादो ।

कम्मइय-कम्मइयसरीरबंधो ॥ ५९ ॥

एत्थ एक्को चेव भंगो । सेसा भंगा संता वि किमट्ठं ण परूविदा ? पुव्वं परूविदत्तादो ।

सो सव्वो सरीरबंधो णाम ॥ ६० ॥

एसो पण्णारसविहो बंधो सरीरबंधो त्ति घेत्तव्वो ।

अर्थः जो शरीरबन्ध है वह पाँच प्रकार का है— औदारिकशरीरबन्ध, वैक्रियिकशरीरबन्ध,

आहारकशरीरबन्ध, तैजसशरीरबन्ध और कार्मणशरीरबन्ध ॥ ४४ ॥

इस प्रकार पाँच प्रकार का ही शरीरबन्ध होता है, क्योंकि, इनसे पृथग्भूत दूसरा शरीरबन्ध नहीं  
उपलब्ध होता । अब एकादि संयोगरूप औदारिक शरीर के बन्धविकल्पों को उत्पन्न कराने के लिए  
आगे का सूत्र कहते हैं—

औदारिक-औदारिकशरीरबंध ॥ ४५ ॥

औदारिकशरीर नोकर्मस्कन्धों का अन्य औदारिकशरीर नोकर्मस्कन्धों के साथ जो बन्ध होता है वह  
औदारिक-औदारिकशरीरबन्ध है । इस प्रकार यह एक संयोग से एक ही भंग होता है १ । अब द्विसंयोग  
भंग का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

औदारिक-तेजसशरीरबन्ध ॥ ४६ ॥

औदारिकशरीर के पुद्गलों का और तैजसशरीर के पुद्गलों का एक जीव में जो परस्पर बन्ध होता है वह औदारिक-तैजसशरीरबन्ध है १ ।

औदारिक-कर्मणशरीरबन्ध ॥ ४७ ॥

एक जीव में स्थित औदारिकस्कन्धों का और कर्मणस्कन्धों का जो परस्पर बन्ध होता है वह औदारिक-कर्मणशरीरबन्ध है २ । ...

इस प्रकार द्विसंयोगी भंग का कथन किया । अब त्रिसंयोगी भंग का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

औदारिक-तेजस-कर्मणशरीरबन्ध ॥ ४८ ॥

एक जीव में निविष्ट हुए औदारिकशरीर, तैजसशरीर और कर्मणशरीर के स्कन्धों का जो परस्पर बन्ध होता है वह औदारिक-तैजस-कर्मणशरीरबन्ध है । इस प्रकार त्रिसंयोगी एक ही भंग होता है ।

अब वैक्रियिकशरीर के एकादिसंयोगी भंगों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

वैक्रियिक-वक्रियिकशरीरबन्ध ॥ ४९ ॥ वैक्रियिक-तैजसशरीरबन्ध ॥ ५० ॥ वैक्रियिक-कर्मणशरीरबन्ध ॥

५१ ॥ वैक्रियिक-तैजस-कर्मणशरीरबन्ध ॥ ५२ ॥

ये चारों ही सूत्र सुगम हैं । अब आहारकशरीर के भंगों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

आहारक-आहारकशरीरबन्ध ॥ ५३ ॥ आहारक-तैजसशरीरबन्ध ॥ ५४ ॥ आहारक-कर्मणशरीरबन्ध ॥

५५ ॥ आहारक-तैजस-कर्मणशरीरबन्ध ॥ ५६ ॥

ये चार सूत्र भी सुगम है ।

तैजस-तैजसशरीरबन्ध ॥ ५७ ॥ तैजसशरीर-कर्मणशरीरबन्ध ॥ ५८ ॥

शंका— शेष भंग यहाँ क्यों नहीं कहे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि पुनरुक्त दोष का प्रसंग प्राप्त होता है ।

कर्मण-कर्मणशरीरबन्ध ॥ ५९ ॥

यहाँ एक ही भंग होता है ।

शंका— शेष भंग भी होते हैं, फिर वे किसलिए नहीं कहे ?

समाधान— क्योंकि, उनका कथन पहले कर आये हैं ।

वह सब शरीरबन्ध है ॥ ६० ॥

यह पन्द्रह प्रकार का बन्ध शरीरबन्ध है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए ।

इस प्रकार इन सूत्रों से यह सिद्ध हो जाता है कि गोम्मटसार कर्मकांड में आगत गाथा 27 शरीर के भेदों को नहीं, बल्कि शरीर-बंधन के भेदों को बता रही है । और “एक शरीर से दूसरा शरीर बनता है” — ऐसा इसका अर्थ नहीं है । बल्कि जो एक ही शरीर साथ ही पाए जाने वाले अन्य शरीर से बंधन को प्राप्त है, ऐसा है । यथा औदारिक-तैजस शरीर बंधन याने जो औदारिक शरीर तैजस शरीर के साथ

बंधन होकर एक साथ पाया जाता है वह औदारिक-तैजस शरीर बंधन है । इसमें जो कर्म निमित्त है, वह औदारिक-तैजस शरीर बंधननाम कर्म है । ऐसे ही सब बंधन कर्मों पर लगाना चाहिए ।

यह एक बहुत बड़ा रहस्य चला आ रहा था जिसका निवारण षट्खंडागम के मूल सूत्रों से होता है । यह युक्ति-युक्त भी है क्योंकि औदारिक शरीर का बंधन तैजस के साथ होना चाहिए जिससे ये दोनों शरीर एक बंधन में साथ रह सकें । उसके लिए कौन-सा कर्म काम करेगा? उसके उत्तर के रूप में यह संयोगी बंधन नामकर्म है । अतः गाथा कथित इन भेदों को शरीर बंधन नामकर्म के भेद जानना चाहिए ।

## गाथा 69

इस गाथा में 8 मूल कर्मों के नोकर्मों का वर्णन किया है ।

पडपडिहारसिमज्जा, आहारं देह उच्चणीचंगं ।

भंडारे मूलाणं, णोकम्मं दवियकम्मं तु ॥ 69 ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि 8 मूलप्रकृतियों के नोकर्म द्रव्यकर्म क्रम से वस्तु के चारों तरफ लगा हुआ कनात का कपड़ा, द्वारपाल, शहद लपेटी तलवार की धार, शराब, अन्नादि आहार, उच्च-नीच शरीर, शरीर और भंडारी — ये आठ जानना ॥ 69 ॥

जो बाह्य वस्तु कर्म के उदय उदयरूप के लिए कारणभूत (सहयोगी) होती है, उसे कर्म का नोकर्म कहा जाता है ।

इसकी भाषा टीका में इन्हें नोकर्म को दृष्टांत के रूप में बता दिया गया है । यथा —

टीका – ज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म सपीठवस्त्र है। जातें जैसे ज्ञानावरण विशेष ग्रहण रूप ज्ञान को रोकें है, तैसे आड़ा सपीठवस्त्र वस्तु के विशेष ग्रहण को रोके है । बहुरि दर्शनावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म द्वार विषै तिष्ठता द्वारपाल जानना । यहु दर्शनावरणवत् राजादिक के सामान्य अवलोकन को रोके हैं । बहुरि वेदनीय-कर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म मधु करि लपेटी खड्ग की धारा जाननी, जातें वेदनीयवत् सुख-दुःख कौ कारण है । बहुरि मोहनीयकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म मदिरा है, जातें मोहनीय की ज्यों सम्यग्दर्शनादिक जीव के गुणनि कौ घाते हैं ।

यहाँ ज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म सपीठ वस्त्र कहा । उसका कारण देते हुए कहा है कि जैसे ज्ञानावरण विशेष ग्रहणरूप ज्ञान को रोकता है, वैसे आड़ा सपीठ वस्त्र विशेष ग्रहण को रोकता है । जैसा ज्ञानावरण है, वैसा वस्त्र है — यह दृष्टांत बताने की भाषा है । परंतु यहाँ ज्ञानावरण कर्म का दृष्टांत नहीं बताना है बल्कि ज्ञानावरण कर्म के उदय के लिए क्या सामग्री सहकारी है यह कहना है । प्रत्येक कर्म के दृष्टांत तो आचार्य पहले ही बता चुके हैं (गाथा 21) । वस्त्र को ज्ञानावरण के समान बताने से पूरे प्रकरण का अर्थ ही बदल जाता है । यहाँ इस प्रकार कहना चाहिए — “ज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म सपीठ वस्त्र है क्योंकि वह विशेषरूप से वस्तु को ग्रहण करने में बाधक होता है ।” अर्थात् वस्त्र ज्ञानावरण जैसा नहीं है, वह ज्ञानावरण के कार्य को उत्पन्न करने में सहकारी वस्तु है । इसी प्रकार शेष सभी सातों कर्मों में

भी समझना चाहिए । भाषा टीका में जो दृष्टांत बना दिया है, वह सहकारी सामग्री के रूप में देखना चाहिए ।

ऐसा ही वर्णन संस्कृत और हिंदी टीका में किया है जो समीचीन है । वह इस प्रकार है —

तत्र ज्ञानावरणस्य नोकर्मद्रव्यकर्म श्लक्ष्णकाण्डपटो भवति विशेषग्रहणप्रतिबन्धकत्वात् । दर्शनावरणस्य द्वारनियुक्तप्रतीहारः सामान्यग्रहणविराधकत्वात् । वेदनीयस्य मधुलिप्तासिधारा सुखदुःखकारणत्वात् । मोहनीयस्य मद्यं सम्यग्दर्शनादिजीवगुणघातकत्वात् । आयुषः चतुर्विधाहारः धृतशरीरस्य बलाधानकारणत्वेन स्थितिहेतुत्वात् । नामकर्मण औदारिकादिदेहः योग्योत्पादकत्वेन औदारिकादिदेहनिवर्तकत्वात् । गोत्रस्य उच्चनीचाङ्गं उच्चनीचकुलाविर्भावकत्वात् । अन्तरायस्य भाण्डागारिकः भोगोपभोगादिवस्तूनामन्तरायकरणात् ॥६९॥

अर्थः ज्ञानावरण का नोकर्मद्रव्य कर्म घने वस्त्र का पर्दा है क्योंकि वह विशेष रूप से वस्तु को ग्रहण करने में बाधक होता है । दर्शनावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म द्वार पर नियुक्त द्वारपाल है क्योंकि वह सामान्यरूप से भी देखने में बाधक होता है । वेदनीय का नोकर्म-द्रव्यकर्म मधु से लिप्त तलवार की धार है क्योंकि उसको चाटने से सुख और पुनः दुःख होता है । मोहनीय का नोकर्म मद्य है क्योंकि वह जीव के सम्यग्दर्शन आदि गुणों का घातक है । आयु का नोकर्म चार प्रकार का आहार है क्योंकि वह धारण किये शरीर के बलाधान में कारण होने से उसकी स्थिति में निमित्त होता है । नामकर्म का नोकर्म औदारिक आदि शरीर है क्योंकि वह योग का उत्पादक होने से औदारिक आदि शरीर को उत्पन्न करता है । गोत्रकर्म का नोकर्म उच्च-नीच शरीर है क्योंकि वह उच्च और नीच कुल को प्रकट करता है । अन्तराय का नोकर्म भण्डारी है क्योंकि वह भोग-उपभोग आदि की वस्तुओं में विघ्न डालता है ॥६९॥

## गाथा 88

इस गाथा में स्तव, स्तुति और धर्मकथा — ये 3 प्रकार के शास्त्र बताए हैं ।

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।

वण्णणसत्थं थयथुइ, धम्मकहा होइ णियमेण ॥

अर्थः [सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार] समस्त का, एक अंग का, एक अंग के एक अधिकार का [सवित्थरं ससंखेवं] विस्तार सहित या संक्षेप में [वण्णणसत्थं] जो वर्णन करने वाला शास्त्र है वह क्रम से [थयथुइ धम्मकहा ] स्तव, स्तुति और धर्मकथा [णियमेण ] नियम से [होइ] होता है ।

इस प्रकार मूल गाथा में तीन ही प्रकार कहे हैं, परन्तु टीकाकार ने 'वस्तु' को मिलाकर चार प्रकार के शास्त्र कहे हैं जो त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है ।

सकलाङ्गार्थसविस्तरससंक्षेपविषयशास्त्रं स्तवः। एकाङ्गार्थसविस्तरससंक्षेपविषयशास्त्रं स्तुतिः ।

एकाङ्गाधिकारार्थसविस्तरससंक्षेपविषयशास्त्रं वस्त्वनुयोगादिधर्मकथा च भवति नियमेन ॥८८॥

इसकी भाषा टीका करते हुए भी चार ही प्रकार कहे हैं परन्तु हिंदी टीका में इस प्रकार अर्थ किया गया है —



समस्त अंग सहित अर्थ का विस्तार या संक्षेप से जिसमें वर्णन होता है उस शास्त्र को स्तव कहते हैं । एक अंग सहित अर्थ का जिसमें विस्तार या संक्षेप से कथन होता है उस शास्त्र को स्तुति कहते हैं । एक अंग के अधिकार सहित अर्थ का संक्षेप या विस्तार से वर्णन करने वाला शास्त्र जिसमें प्रथमानुयोग सम्बन्धी वस्तु रहती है वह नियम से धर्मकथा है । ... ॥८८॥

प्रतीत होता है कि हिंदी टीकाकार ने इस त्रुटी को अनुभव किया और मूल गाथा का अनुवाद इसी प्रकार किया जिससे तीन प्रकार के भेद ही प्रकट हों । इससे भी यह निश्चय हो जाता है कि यहाँ वास्तव में शास्त्र के तीन ही प्रकार कहे हैं, चार नहीं ।

### गाथा 91 की टीका —

यहाँ कर्म के अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध का सादि बंध बताते हुए कहा गया है कि उपशमश्रेणी आरोहक सूक्ष्म-साम्पराय में उच्च गोत्र के उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधता है ।

...तथाप्यत्रोदाहरणमात्रं किञ्चित् प्रदर्श्यते । तद्यथा— उपशमश्रेण्यारोहकः सूक्ष्मसाम्परायः उच्चैर्गोत्रानुभागमुत्कृष्टं बद्ध्वा उपशान्तकषायो जातः । पुनरवरोहणे सूक्ष्मसाम्परायो भूत्वा तदनुभागमनुत्कृष्टं बध्नाति । तदाऽस्य सादित्वं तत्सूक्ष्मसाम्परायचरमादधोऽनादित्वम् । ...

अर्थ: ... वह इस प्रकार से — उपशमश्रेणी आरोहक सूक्ष्म-साम्पराय में उच्च गोत्र के उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधकर उपशांतकषाय गुणस्थान में जाता है । फिर अवरोहण करके उसके अनुत्कृष्ट अनुभाग को बाँधता है ।...

परन्तु उच्चगोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बंध उपशम श्रेणी में नहीं होता है, मात्र क्षपक श्रेणी में ही होता है । इसी बात को आगे अनुभाग बंध के प्रकरण में कहा है —

### गाथा 166

मणुओरालदुवज्जं, विसुद्धसुरणिरयअविरदे तिव्वा ।

देवाउ अप्पमत्ते, खवगे अवसेसबत्तीसा ॥ 166 ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि की 38 प्रकृतियों में से मनुष्य-2, औदारिक-2 और वज्रऋषभनाराचसंहनन — इन पाँचों का उत्कृष्ट अनुभाग-बंध विशुद्ध देव और नारकी असंयत सम्यग्दृष्टि करता है । देवायु को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान वाला उत्कृष्ट अनुभागसहित बाँधता है । बाकी 32 प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-बंध क्षपकश्रेणी वाले जीव के होता है ॥ 166 ॥

वे 32 प्रकृतियाँ कौन-सी हैं? इसका उत्तर अगली गाथा में दिया है —

उवघादहीणतीसे, अपुव्वकरणस्स उच्चजससादे ।

सम्मेलिदे हवंति हु, खवगस्सऽवसेसबत्तीसा ॥ 167 ॥

अर्थ— अपूर्वकरण के छठे भाग की 30 व्युच्छित्ति प्रकृतियों में एक उपघात प्रकृति को छोड़ बाकी 29 प्रकृतियाँ और उच्च गोत्र, यशस्कीर्ति, सातावेदनीय ये 3 — इस प्रकार सब 29 + 3 = 32 प्रकृतियाँ क्षपकश्रेणी वाले के पूर्व गाथा में कही थीं सो जानना ॥ 167॥

इससे स्पष्ट होता है कि उपशम श्रेणी में उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बंध नहीं है । इतने वाक्य को छोड़कर शेष वाक्य पूर्णतः उपयुक्त हैं । टीकाकार जो अनुत्कृष्ट का सादि अनुभाग बंध उपशम श्रेणी से उतरते समय बताना चाहते हैं, वह भी बन जाता है । उपशम श्रेणी में दसवे गुणस्थान तक अनुत्कृष्ट बंध हुआ, ग्यारहवे गुणस्थान में उसका अभाव हुआ । वह जीव पुनः उतरते हुए दसवे गुणस्थान में आया, तब गोत्र का अनुत्कृष्ट बंध प्रारंभ करता है । इसलिए उसका अनुत्कृष्ट बंध सादि बन जाता है । बस, उपशम श्रेणी में उत्कृष्ट अनुभाग बंध वाली बात योग्य नहीं है ।

### गाथा 143

यहाँ प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बंध का कितना होता है यह बताया जा रहा है । इसमें से विशिष्ट प्रकृतियों के जघन्य बंध का प्रमाण बता देने के बाद इस गाथा में शेष बची प्रकृतियों के जघन्य बंध का प्रमाण उन प्रकृतियों का स्वामी बताकर कहा है ।

सेसाणं पज्जत्ते, बादरएइंदियो विसुद्धो य ।

बंधदि सव्वजहणं, सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥ 143 ॥

अर्थ— (बंधयोग्य 120 प्रकृतियों में से 29 प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-बंध ऊपर बता चुके हैं ।) शेष बची 91 प्रकृतियाँ; (उनमें भी वैक्रियिकषट्क के बिना, गाथा 151 अनुसार) शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थितियों को यथायोग्य विशुद्ध परिणामों को धारण करने वाला बादर पर्याप्त एकेंद्रिय जीव ही बाँधता है । उस जघन्य बंध का प्रमाण अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति के प्रतिभाग द्वारा त्रैराशिक विधि के अनुसार आता है ॥ 143 ॥

इसकी टीका में शेष बची प्रकृतियों में मिथ्यात्व प्रकृति को अलग कर दिया गया जो कि उचित प्रतीत नहीं होता है । यथा —

उक्ताभ्यः २९ शेषप्रकृतीनां ९१ मध्ये वैक्रियिकषट्कमिथ्यात्वरहितानां ८४ जयन्यस्थितिं

बादरैकेन्द्रियपर्याप्तः तद्योग्यविशुद्ध एव बध्नाति स्वस्वोत्कृष्टप्रतिभागेन त्रैराशिकविधानेनेत्यर्थः ॥१४३॥

अर्थः उक्त २९ प्रकृतियों से शेष रही ९१ प्रकृतियों में से वैक्रियिकषट्क और मिथ्यात्व के बिना ८४ की जघन्य स्थिति को बादर एकेन्द्री पर्याप्त उसके योग्य विशुद्धता का धारक होकर बाँधता है । सो अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति के प्रतिभाग द्वारा त्रैराशिक विधान के अनुसार बाँधता है ॥१४३॥

यहाँ शेष बची 91 प्रकृतियों में से वैक्रियिक-6 प्रकृतियों को अलग किया क्योंकि एकेंद्रिय जीव उनका बंध नहीं करता । अतः उनका जघन्य बंध का प्रमाण एकेंद्रिय के प्रतिभाग के अनुसार नहीं आता है । यह कथन योग्य है । इसके अलावा मिथ्यात्व प्रकृति को भी शेष प्रकृतियों में से अलग किया और शेष बची (91- 6 -1) 84 प्रकृतियों का जघन्य बंध का स्वामी बादर एकेंद्रिय पर्याप्त जीव को कहा । लेकिन बादर एकेंद्रिय पर्याप्त जीव ही मिथ्यात्व के जघन्य बंध का भी स्वामी होता है । उसे यहाँ नहीं घटाना चाहिए । यदि घटाया है, तो फिर मिथ्यात्व का जघन्य बंध कितना है, यह भी कहीं अलग से बताना चाहिए लेकिन उसका अलग से कोई कथन भी नहीं किया है ।

इसके अलावा महाबंध में मिथ्यात्व प्रकृति के जघन्य बंध का स्वामी एकेन्द्रिय को ही कहा है । यथा महाबंध भाग 2, पृष्ठ 285

पंचदंशणा०-मिच्छन्त-बारसक०-हस्स-रदि-भय-दुगु०-पंचिदि०-ओरालिय०-तेजा०-क०-समचदु० ओरालि० अंगो०-वञ्जरिसभ०-वण्ण०४-अगुरु०४-पसत्थ०-तस०४-थिरादिपंच-णिमि० जह० ट्टिदि० कस्स० ? अण्ण० बादरएइंदियस्स सव्वाहि पज्जत्तीहि पञ्जत्तगदस्स सागार-जा० सुदोवजोगजुत्तस्स सव्वविसुद्धस्स जहण्ण० ट्टिदिबं० वट्ट० ।

अर्थ: पाँच दर्शनावरण, मिथ्यात्व, बारह कषाय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वज्रऋषभनाराचसंहनन, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, प्रशस्तविहायोगति, त्रसचतुष्क, स्थिर आदि पाँच और निर्माण इन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध का स्वामी कौन है? अन्यतर बादर एकेन्द्रिय जो सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है, साकार जागृत श्रुतोपयोग से उपयुक्त है और सर्वविशुद्ध है, वह उक्त प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध का स्वामी है ।

अतः टीका में जो 84 प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बंध बादर एकेन्द्रिय के लिए लिखा है, उसके स्थान पर 85 प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बंध बादर एकेन्द्रिय के कहना चाहिए ।

## गाथा 145

यहाँ कर्मों के जघन्य स्थिति बंध के प्रकरण में एक-एक कर्म का जघन्य स्थिति-बंध का क्या प्रमाण है यह बताया जा रहा है । इसमें जिन कर्मों का जघन्य स्थिति बंध एकेन्द्रिय को होता है उसका वर्णन करते हुए टीका में उसका प्रमाण भी बताया है । यह इस प्रकार है —

पुनः अनेन संपातत्रैराशिकक्रमेण शेषाणां सागरपञ्चदशकोटीकोटिस्थितिसातस्त्रीवेदमनुष्ययुग्मानां सागराष्टादशकोटीकोटिस्थितिवामनकीलितविकलत्रयसूक्ष्मत्रयाणां सागरषोडशकोटीकोटिस्थितिकुब्जार्धनाराचयोः सागरचतुर्दशकोटीकोटिस्थितिस्वातिनाराचयोः सागरद्वादशकोटीकोटिस्थितिन्यग्रोधवज्रनाराचयोः सागरदशकोटीस्थितिसमचतुरस्रवज्रर्षभनाराचहास्य-रत्युच्चैर्गोत्रपुंवेदस्थिरषट्कसद्गमनानां च उत्कृष्ट स्थितिबन्धं एकेन्द्रियस्य साधयेत् ।

यहाँ कहा है कि जिन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बंध 20 कोडाकोडी स्थिति से कम है, उनका जघन्य स्थिति बंध भी प्रतिभाग के अनुसार निकालना चाहिए । याने पंद्रह कोडाकोडी सागर वाले कर्मों का जघन्य बंध एकेन्द्रिय के 15/70 – पल्य/असं सागर होता है, 10 कोडाकोडी सागर वाले कर्मों का बंध 1/7 – पल्य/असं. होता है आदि । परन्तु जीवट्टाण चूलिका में एकेन्द्रिय के इस प्रकार के सभी कर्मों का जघन्य बंध भी 2/7 सागर – पल्य/असं ही कहा है, ना कि प्रतिभाग के अनुसार । देखिये धवल पुस्तक 6, पृष्ठ 190

इत्थिवेद-णउंसयवेद-हस्स-रदि-अरदि-सोग-भय-दुगुंछा तिरिक्ख-गइ-मणुसगइ-एइंदिय-बीइंदिय-तीइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदियजादि-ओरालिय-तेजा-कम्मइयसरीरं छण्हं संट्टाणाणं ओरालियसरीरअंगोवंगं छण्हं

संघडणाणं वण्ण-गंध-रस-फासं तिरिक्खगइ-मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वी अगुरुअलहुअ-उवघाद-परघाद-उस्सास-आदाउज्जोव-पसत्थविहायगदि-अप्पसत्थविहायगदि-तस-थावर-बादर-सुहुम-पञ्जत्तापञ्जत्तपत्तेय-साहारणसरीर-थिराथिर-सुभासुभ-सुभग-दुभग सुस्सर-दुस्सर आदेज्ज-अणादेज्ज-अजसकित्ति-णिमिण-णीचागोदाणं जहण्णगो ट्ठिदिबंधो सागरोवमस्स वे-सत्तभागा पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेण ऊणया ॥ २४ ॥

अर्थ: स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कर्मणशरीर, छहों संस्थान, औदारिकशरीर-अंगोपांग, छहों संहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यग्गति-प्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आताप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येकशरीर, साधारणशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र, इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भाग है ॥२४॥

यहाँ मूल सूत्र में आचार्य भूतबली भगवान् ने कहा है कि 20 कोड़ाकोड़ी स्थिति से कम वाली प्रकृतियों का जघन्य बंध  $\frac{2}{7}$  सागर -  $\frac{\text{पल्य}}{\text{असंख्यात}}$  ही है, ना कि स्थिति का प्रतिभाग करके  $\frac{15}{70}$ ,  $\frac{10}{70}$ ,  $\frac{12}{70}$  आदि ।

धवल टीका में इसका कारण स्पष्ट भी किया है कि इनका जघन्य बंध इनके उत्कृष्ट बंध के अनुसार ना होकर मूल प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार हास को प्राप्त होता है । धवल पुस्तक 6, पृष्ठ 191

ण, जदि वि एदासिमप्पणो उक्कस्सट्ठिदी बीससागरोवमकोडाकोडीमेत्ता णत्थि, तो वि मूलपयडिउक्कस्सट्ठिदिअणुसारेण ओहट्टमाण्णं पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेणूणसागरोवमवेसत्तभागमेत्त-जहण्णट्ठिदिबंधाविरोहा । ण च इस्थिवेद-हस्स-रदीयो कसाय

शंका— नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और पंचेन्द्रिय जाति आदि प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भागमात्र भले ही रहा आये, क्योंकि, इन प्रकृतियों की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्टस्थिति देखी जाती है । किन्तु स्त्रीवेद, हास्य, रति, स्थिर शुभ, सुभग और सुस्वर आदि प्रकृतियों का पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भागमात्र जघन्य स्थितिबन्ध नहीं घटित होता है, क्योंकि, इन स्त्रीवेदादि प्रकृतियों की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्टस्थिति का अभाव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यद्यपि इन स्त्रीवेद आदि की अपनी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण नहीं है, तो भी मूलप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार हास को प्राप्त होती हुई इन प्रकृतियों का पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भागमात्र जघन्यस्थिति के बंधने में कोई विरोध नहीं है । तथा, स्त्रीवेद, हास्य और रति, ये प्रकृतियां कषायों के बन्ध का अनुसरण करने वाली नहीं हैं, क्योंकि, नोकषाय के कषाय बन्ध के अनुसरण का विरोध है ।

अतः एकेंद्रिय जीव को 20 कोड़ाकोड़ी सागर से कम बंधने वाले कर्मों का भी जघन्य स्थिति बंध  $\frac{2}{7}$  सागर  $\frac{\text{पल्य}}{\text{असंख्यात}}$  होता है ऐसा जानना चाहिए । ऐसा प्रतीत होता है कि टीका में सरल व्याख्यान के उद्देश्य से प्रतिभाग का नियम कह दिया गया पर सिद्धांत से वह यथार्थ नहीं बैठता है ।

## गाथा 157, टीका

इस गाथा में अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति की कितनी आबाधा होती है, यह बताया है । इसकी टीका में एक सागर की कितनी आबाधा होती है, यह भी त्रैराशिक से दिखाया है ।

प्र-सा ७० को २। फ अबाधा ७००० । इ सा १ लब्ध अबाधा उच्छ्वासः १ ॥१५७॥

यदि 70 कोड़ाकोड़ी सागर की आबाधा का प्रमाण 7000 वर्ष है तो 1 सागर की आबाधा कितनी होगी? यहाँ प्रमाणराशि 70 कोड़ाकोड़ी सागर, फलराशि आबाधा का प्रमाण 7000 वर्ष, इच्छा राशि 1 सागर । सो फल को इच्छा से गुणाकर प्रमाण राशि का भाग देने पर लब्ध आता है । वह लब्ध इस प्रकार आएगा :  $\frac{\text{फलराशि}}{\text{प्रमाणराशि}} \times \text{इच्छा राशि} = \frac{7000 \text{ वर्ष}}{70 \text{ कोड़ाकोड़ी सागर}} \times 1 \text{ सागर}$  । यहाँ वर्षों को उच्छ्वास से रूपांतरित कर देने पर ऐसा आएगा:  $\frac{28523880000 \text{ उच्छ्वास}}{70 \text{ कोड़ाकोड़ी सागर}} \times 1 \text{ सागर} = \frac{1}{\text{संख्यात}} \text{ उच्छ्वास}$  अर्थात् एक उच्छ्वास का संख्यातवा भाग । अर्थात् एक सागर की आबाधा एक उच्छ्वास का संख्यातवा भाग प्राप्त होती है । संस्कृत

टीका में इस प्रकार की संदृष्टि भी दी है <sup>१</sup> इसका अर्थ है एक भागित संख्यात । परन्तु भाषा टीका में और हिंदी टीका में इसे संख्यात उच्छ्वास मात्र कहा गया है । परन्तु गणित से हल करने पर और संस्कृत टीका की मूल संदृष्टि से मिलान करने पर यह उच्छ्वास का संख्यातवा भाग ही होता है ।

## गाथा 163,उत्थानिका

अनुभाग बंध के प्रकरण को प्रारंभ करते हुए गाथा 163 की उत्थानिका में कहा है कि अब 23 गाथाओं के द्वारा अनुभाग बंध कहते हैं । यथा—

अथानुभागबंधं त्रयोविंशतिगाथाभिराह —  
अर्थः अब अनुभाग बंध को 23 गाथाओं के द्वारा कहते हैं —

अनुभाग बंध की सम्पूर्ण गाथाओं में अंतिम गाथा 184 है जिसके पश्चात् प्रदेश बंध का प्रकरण प्रारंभ होता है । 163 से 184 तक गाथाएँ 22 होती हैं, 23 नहीं (8 + 10 + 4 = 22) । अर्थात् एक गाथा टीकाकार अधिक कह रहे हैं । या तो यह त्रुटिपूर्ण गिनती है अथवा संभव है कोई गाथा टीकाकार आचार्य के समक्ष थी परन्तु हमें वह उपलब्ध नहीं है और ना ही (संभवतः) छूटी हुई गाथा की कोई टीका उपलब्ध है । यद्यपि अनुभाग के प्रकरण का अध्ययन करने से ऐसा लगता नहीं है कि कोई गाथा छूटी है क्योंकि लगभग सारा विषय क्रमबद्ध तरीके से पूर्ण किया है । फिर भी विद्वान इस पर विचार करें ।

## गाथा 177 (स्वर, सुर नामकर्म)

गाथा 177 में बताया है कि प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध का स्वामी कौन है । गाथा इस प्रकार है:

थिरसुहजससाददुगं उभये मिच्छेव उच्चसंठाणं ।

संहदिगमणं णरसुरसुभगादेज्जाण जुम्मं च ॥ 177 ॥

इसकी द्वितीय पंक्ति में आगत 'णरसुरसुभगादेज्जाण जुम्मं'का अर्थटीकाकार द्वारा "नर-द्विक, सुर-द्विक (देव-द्विक), सुभग-द्विक, आदेय-द्विक" किया गया है । यथा:

संहननषट्कं प्रशस्ताप्रशस्तगमने नरसुरसुभगादेययुग्मानीति त्रयोविंशतेर्जघन्यानुभागो भवति ॥१७७॥

अर्थ: तथा उच्चगोत्र, छह संस्थान, छह संहनन, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, मनुष्यगति, मनुष्य-गत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय ये तेईस प्रकृतियाँ परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव के ही जघन्य अनुभाग सहित बँधती हैं ।

परन्तु यहाँ सुर शब्द का अर्थ 'देव' नहीं है बल्कि स्वर नामकर्म है । देव-द्विक के जघन्य अनुभाग बंध का स्वामी तो पहले ही गाथा 172 में मनुष्य या तिर्यच जीव के कह दिया गया है । देखिये गाथा 172:

आहारमप्पमत्ते, पमत्तसुद्धे य अरदिसोगाणं ।

णरतिरिये सुहमतियं, वियलं वेगुव्वछक्काओ ॥ 172 ॥

अर्थ— आहारक-2 प्रमत्त गुणस्थान के सम्मुख हुए संक्लेशपरिणाम वाले अप्रमत्त गुणस्थानवाले केतथा अरति, शोक अप्रमत्त गुणस्थान के सम्मुख हुए विशुद्ध प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव के जघन्य अनुभागसहित बंधती हैं । सूक्ष्मादि तीन, विकलेन्द्रिय तीन, वैक्रियिक-षट्क और 4 आयु — ये सोलह प्रकृतियाँ मनुष्य अथवा तिर्यच के जघन्य अनुभागसहित बंधती हैं ॥ 172 ॥

यहाँ वैक्रियिक-षट्क प्रकृतियों में देव-द्विक का कथन हो चुका है अतः ग्रंथकार उसका पुनः कथन नहीं कर रहे हैं । इसके अलावा स्वर-द्विक का वर्णन अन्यत्र कहीं किया भी नहीं है अतः यहाँ पर 'सुर' से आशय स्वर-द्विक प्रकृतियों से है ।

इसके अलावा महाबंध में भी इन सब प्रकृतियों के जघन्य बंध के स्वामी के वर्णन में स्वर-द्विक का ही ग्रहण किया है, ना कि देव-द्विक का । यथा महाबंध, पुस्तक 4, पृष्ठ 214

मणुस०-छसंठा०-छसंघ०-मणुसाणु०-दोविहा०-मज्झिअतिणियुग०-उच्चा० जह० कस्स० ? अण्ण० चदु-गदि० पंचिंदि० सणि० मिच्छादि० परिय० मज्झिम० ज० वट्ट ।

अर्थ: मनुष्यगति, छह संस्थान, छह संहनन, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, दो विहायोगति, मध्य के सुभगादिक तीन युगल और उच्चगोत्र के जघन्य अनुभागबन्ध का स्वामी कौन है ? परिवर्तमान मध्यम परिणामवाला और जघन्य अनुभागबन्ध करने वाला अन्यतर चारगति का पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव उक्त प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबन्ध का स्वामी है ।

अतः यहाँ देव-द्विक के स्थान पर स्वर-द्विक प्रकृतियों को कहना चाहिए ।

## गाथा 182

गाथा 182 में कौन-से कर्म अनुभाग की अपेक्षा किस-किस भाव रूप परिणमते हैं इसका वर्णन किया है ।

आवरणदेसघादं-तरायसंजलणपुरिससत्तरसं ।

चदुविधभावपरिणदा, तिविधा भावा हु सेसाणं ॥ 182 ॥

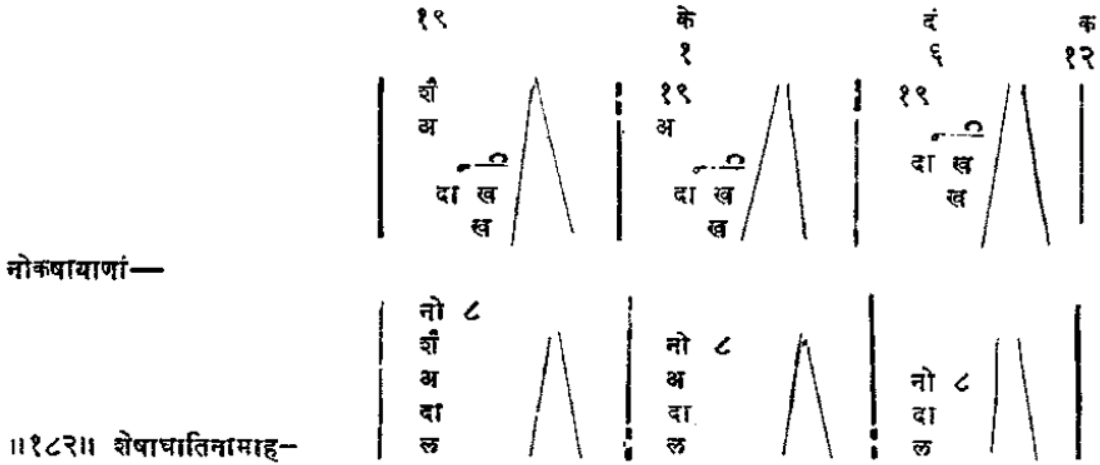
अर्थ— आवरणों में देशघाती की 7 प्रकृतियाँ (4 ज्ञानावरण, 3 दर्शनावरण), अंतराय 5, संज्वलन 4 और पुरुषवेद — ये 17 प्रकृतियाँ शैल आदिक चारों तरह के भावरूप परिणमन करती हैं और बाकी सब प्रकृतियों के शैल आदि तीन तरह के परिणमन होते हैं, केवल लतारूप परिणमन नहीं होता ॥

182 ॥

देशघाती प्रकृतियों में 17 प्रकृतियाँ इन चार भावों से परिणमती हैं — 1) शैल, अस्थि, दारु, लता 2) अस्थि, दारु, लता 3) दारु, लता 4) लता । शेष प्रकृतियाँ तीन भाव से परिणमती हैं — 1) शैल, अस्थि, दारु 2) अस्थि, दारु 3) दारु ।

शेष प्रकृतियाँ कौन-सी हैं, इसका टीका में निर्देश करते हुए कहा है —

शेषाणां मिश्रसम्यक्त्वप्रकृती विना घात्यघातिनां सर्वेषां प्रत्येकं त्रिविधा भावाः खलु । तत्र घातिनां—



अर्थ: शेष प्रकृतियों में से मिश्र और सम्यक्त्वप्रकृति के बिना समस्त घाति प्रकृतियाँ तीन भागरूप ही परिणत होती हैं ।

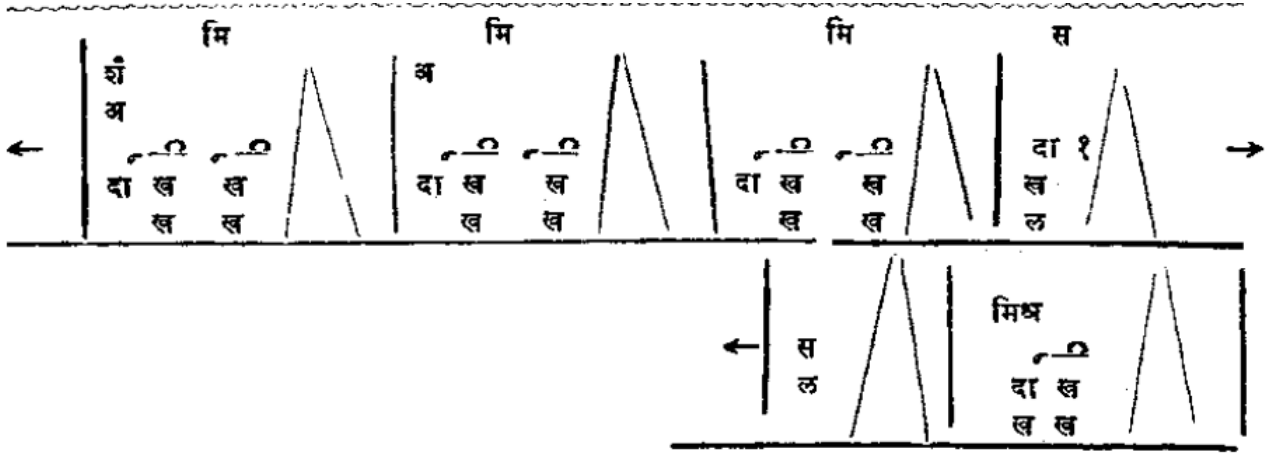
टीका में इसके आगे संदृष्टि दी गयी है लेकिन कर्मों के नाम अलग से स्पष्ट नहीं लिखे हैं । जो कर्मों की संदृष्टि दी गयी है उसमें कहे गए कर्म हैं—सर्वघाती प्रकृतियों में 19 प्रकृतियाँ (केवलज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण, 5 निद्राएँ, 12 कषाय)और देशघाती 8 नोकषाय ।

इसमें मिथ्यात्व की गणना नहीं की गयी है जबकि मिथ्यात्व भी इन प्रकृतियों के समान तीन प्रकार से ही परिणमता है । टीका में शेष प्रकृतियों में इसे गिना भी है परन्तु संदृष्टि में इसका नाम नहीं दिया गया है जिससे ऐसा लगता है कि मिथ्यात्व के परिणमन को बताया नहीं गया । तथा सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृति का किस प्रकार का परिणमन होता है वह भी छूट जाता है ।

इसके समाधान के लिए थोड़ा सा पीछे देखते हैं तो गाथा 181 में कर्नाटवृत्ति में और संस्कृत टीका में मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, मिश्र प्रकृतियों के अनुभाग का प्रकार संदृष्टि के रूप में दिया है परन्तु इसका अर्थ कहीं नहीं किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि गाथा 181 की टीका के अंत में दी गई संदृष्टि वास्तव

में गाथा 182 की टीका के अंत में आनी चाहिए एवं उसका अर्थ भी किया जाना चाहिए । मिथ्यात्व आदि 3 कर्मों की संदृष्टि का गाथा 181 में कोई औचित्य भी नहीं है और शायद इसलिए उनका अर्थ भी गाथा 181 में नहीं किया गया है ।

गाथा 181 के अंत में आगत यह संदृष्टि इस प्रकार है —



इसका अर्थ इस प्रकार होता है —

मिथ्यात्व प्रकृति तीन भाव से परिणमती है — 1) शैल, अस्थि, दारु 2) अस्थि, दारु 3) दारु । मिश्र प्रकृति एकमात्र दारुरूप से परिणमती है । सम्यक्त्व प्रकृति दो भाव से परिणमती है — 1) दारु, लता 2) लता ।

अतः यह पूर्वोक्त अर्थ गाथा 182 के अंत में दिया जाना चाहिए जिससे सारी प्रकृतियों के अनुभाग के प्रकारों का वर्णन सम्पूर्ण हो सके ।

## गाथा 198

यहाँ प्रसंग है कि देशघाती प्रकृतियों में सर्वघाती द्रव्य के बटवारे हेतु प्रतिभाग क्या है? अर्थात् देशघाती द्रव्य में किसका भाग लगाया जाए जिससे सर्वघाती का द्रव्य प्राप्त हो जाए। सामान्यरूप से यह कहा गया है कि यह प्रतिभाग अनंत है । परन्तु इसी प्रतिभाग को विशेष रूप से बताने के लिए इस गाथा की रचना हुई है ।

देसावरणणोष्णभत्थं तु अणंतसंखमेत्तं खु ।

सव्वावरणधण्डुं, पडिभागो होदि घादीणं ॥ 198 ॥

दिया गया अर्थ— चार ज्ञानावरणादि देशघाती प्रकृतियों की अन्योन्याभ्यस्तराशि अनंत संख्या प्रमाण है । वही राशि सर्वघाती प्रकृतियों के द्रव्य प्रमाण को निकालने के लिये घातिया कर्मों का प्रतिभाग जानना ॥ 198 ॥

टीका में कहा है कि देशघाती प्रकृतियों की जो नाना गुणहानि है, उनसे जो अन्योन्याभ्यस्त राशि निकलती है जो कि अनंत संख्यामात्र है, वह प्रतिभाग का प्रमाण है । यथा —

सर्वघातिद्रव्यं समाप्तं तत एवान्योन्यान्यभ्यस्तराशिः सर्वावरणधनार्थं प्रतिभाग इत्युक्तं



परन्तु गणित की प्रक्रिया से निकालने पर यह ठीक नहीं ठहरता । इसे समझने के लिए टीका में ही दिया हुआ उदाहरण लेते हैं । उदाहरण में सर्वद्रव्य = 3100, देशघाती की गुणहानि = 2, सर्वघाती की गुणहानि = 3, पाँच गुणहानियों की अन्योन्याभ्यस्त राशि =  $2^5 = 32$  ।

सर्वघाती का द्रव्य (अंतिम तीन गुणहानियों का द्रव्य) =  $100 + 200 + 400 = 700$

टीका में सर्वघाती द्रव्य निकालने हेतु यह सूत्र दिया है  $\frac{\text{सर्वद्रव्य}}{\text{अन्योन्याभ्यस्त राशी}}$  । यदि इस सूत्र का प्रयोग करते हैं तो लब्ध द्रव्य अंतिम गुणहानी मात्र का आएगा, ना कि सर्वघाती द्रव्य का ।

यथा  $\frac{3100}{2^5} = \frac{3100}{32} =$  लगभग 100 जो कि अंतिम गुणहानी का द्रव्य है । याने यह सूत्र सही नहीं सिद्ध हो रहा है । तो फिर सूत्र क्या होना चाहिए ?

गाथा में कहे शब्दों के अनुसार चलते हैं । गाथा का शब्दशः अर्थ है —“देशावरण की अन्योन्याभ्यस्त राशि अनंत संख्यामात्र होती है, वह घातिकर्मों के सर्वावरण धन के निकालने के लिए प्रतिभाग होती है ।“ यहाँ देशावरण का अर्थ देशघाती प्रकृति के स्थान पर देशघाती द्रव्य किया जाए तो अर्थ ठीक-ठीक लग जाता है । यथा —

$$\text{सर्वघाती द्रव्य} = \frac{\text{सर्वद्रव्य}}{\text{देशघाती द्रव्य की अन्योन्याभ्यस्त राशी}} = \frac{3100}{2^2} = \frac{3100}{4} = \text{लगभग } 700$$

यह उत्तर ठीक आ गया । अतः यहाँ सारी गुणहानियों की अन्योन्याभ्यस्त राशी को प्रतिभाग ना बनाकर मात्र उसमें से देशघाती गुणहानियों की अन्योन्याभ्यस्त राशी ही प्रतिभाग के रूप में लेनी चाहिए । मूल गाथा में भी इसी प्रकार कहा है ।

टीका में जो प्रथम गुणहानी से अंतिम गुणहानी का द्रव्य निकालने हेतु गुणकार बताया है, वह ठीक है । फिर एक-एक गुणहानी का जोड़ करके सर्वघाती, देशघाती का पृथक-पृथक द्रव्य निकाला है वह भी ठीक है । परन्तु गाथा तो प्रतिभाग की चर्चा कर रही है जिससे एक सूत्र के द्वारा सम्पूर्ण सर्वघाती का द्रव्य निकाला जा सके । उस प्रतिभाग का प्रमाण उपर्युक्त अनुसार समीचीन समझना चाहिए ।

## गाथा 203

यहाँ प्रसंग है कि मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों में कर्म द्रव्य का विभाग कैसे होता है ? इसकी भाषा टीका में संज्वलन कषाय के द्रव्य के विभाजन को बताने के पश्चात् एक वाक्य लिखा गया है जो समीचीन प्रतीत नहीं होता । वह इस प्रकार है —

मिथ्यात्व और बारह कषाय का द्रव्य सर्वघाती ही है और नोकषायों का सब द्रव्य अघाती ही है ।

इसी का अनुसरण करते हुए हिंदी टीका में भी यह इसी प्रकार कह दिया गया है । परन्तु गाथा और मूल संस्कृत टीका में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है ।

यह कथन समीचीन इसलिए नहीं है क्योंकि नोकषाय का द्रव्य सर्वघाती रूप भी होता है और देशघाती रूप भी होता है । इसे आचार्य देव स्वयं अनुभाग के प्रकरण में बता चुके हैं । देखिये गाथा 182 एवं इसकी टीका —

आवरणदेसघादं-तरायसंजलणपुरिससत्तरसं ।

चदुविधभावपरिणदा, तिविधा भावा हु सेसाणं ॥ 182 ॥

अर्थ— आवरणों में देशघाती की 7 प्रकृतियाँ (4 ज्ञानावरण, 3 दर्शनावरण), अंतराय 5, संज्वलन 4 और पुरुषवेद — ये 17 प्रकृतियाँ शैल आदिक चारों तरह के भावरूप परिणमन करती हैं और बाकी सब प्रकृतियों के शैल आदि तीन तरह के परिणमन होते हैं, केवल लतारूप परिणमन नहीं होता ॥ 182 ॥

यहाँ कही गयी 17 प्रकृतियों से शेष बची प्रकृतियों में सारी 8 नोकषाय शामिल है । उनके लिए टीका में कहा है — 8 नोकषाय तीन भाव से परिणमती हैं — 1) शैल, अस्थि, दारु, लता 2) अस्थि, दारु, लता 3) दारु, लता । पुरुष वेद नोकषाय का परिणमन चार प्रकार से होता है —1) शैल, अस्थि, दारु, लता 2) अस्थि, दारु, लता 3) दारु, लता 4) लता । अब जबकि इन सभी नोकषाय के अनुभाग शैल, अस्थि, दारु रूप पाए जाते हैं तब “ये मात्र अघाती हैं, घाती नहीं”—ऐसा कहना योग्य नहीं हो सकता है ।

इस प्रकार के भ्रम का कारण यह हो सकता है कि टीकाकार ने मोहनीय के सर्वघाती द्रव्य में से नोकषाय के द्रव्य को विभाग करके नहीं दिया । यह सामान्य श्रोताओं के लिए हमेशा एक रहस्य बना रहता है । इसके द्रव्य के विभाग की चर्चा हम अलग से करेंगे । परन्तु मूल ग्रन्थ के अनुसार यह तो निश्चित है कि नोकषाय के द्रव्य में सर्वघाती द्रव्य अवश्य होता है । उसे मात्र अघाती नहीं कहा जा सकता है ।

## गाथा 211

यहाँ प्रसंग है मूल प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेश बंध के स्वामित्व का । मूल गाथा इस प्रकार है —

आउक्कस्सपदेसं, छक्कं मोहस्स णव दु ठाणाणि ।

सेसाणं तणुकसाओ, बंधदि उक्कस्सजोगेण ॥ 211 ॥

टीका: आयुष उत्कृष्टप्रदेशं षड्गुणस्थानान्यतीत्य अप्रमत्तो भूत्वा बध्नाति, मोहस्य तु पुनः नवमं गुणस्थानं प्राप्य अनिवृत्तिकरणो बध्नाति । शेषज्ञानदर्शनावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायाणां सूक्ष्मसांपराय एव । अत्रापि स्थानत्रये उत्कृष्टयोगः प्रकृतिबन्धाल्पतरः इति विशेषणद्वयं ज्ञातव्यम् ॥२११॥

टीका में आगत अर्थ— आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध छः गुणस्थानों को उल्लंघ कर अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती होकर करता है । मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नवमे गुणस्थानवर्ती जीव करता है । और शेष बचे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय — इन छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान वाला जीव ही करता है ॥ 211 ॥

यहाँ पर आयु और मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश बंध त्रुटित हो गया है । उस पर विचार करते हैं ।

आयु कर्म के बंध-योग्य गुणस्थान तीसरे मिश्र गुणस्थान को छोड़कर प्रथम गुणस्थान से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक हैं । याने कुल छह गुणस्थानों में आयु कर्म का बंध संभव है ।

अब देखना यह है कि क्या इन सभी गुणस्थानों में उत्कृष्ट प्रदेश बंध की सामग्री मौजूद है? उत्कृष्ट प्रदेश बंध की सामग्री है — “जो जीव उत्कृष्ट योगों से सहित, संज्ञी, पर्याप्त और थोड़ी प्रकृतियों का बंध करने वाला होता है, वही जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध को करता है ।” गाथा 210

इन सभी गुणस्थानों में जीव उत्कृष्ट योग को प्राप्त कर सकता है, संज्ञी होता है, पर्याप्त होता है और जब भी आयु बंधेगी तो आठ कर्म बंधते ही हैं, ना कम, ना अधिक । अतः उत्कृष्ट बंध हेतु सभी सामग्री पायी जाने से इन सभी छह गुणस्थानों में आयु का उत्कृष्ट प्रदेश बंध संभव है । इसी के आगम-प्रमाण हेतु महाबंध पुस्तक 6, पृष्ठ 14 में कहा है —

आउगस्स उक्क० पदे० बं० कस्स ? अण्ण० चदुग० पंचिं० सण्णि० मिच्छादिट्ठिं० वा सम्मादिट्ठिं० वा सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्ज० अट्ठविधबंधगस्स उक्कस्सजोगिस्स ।

अर्थ: आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का स्वामी कौन है ? जो चारों गति का पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि जीव सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है, आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध कर रहा है और उत्कृष्ट योगवाला है, वह अन्यतर जीव आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का स्वामी है ।

यहाँ स्पष्ट कहा है कि आयु कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश बंध सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि किसी के भी होता है । किसी गुणस्थान विशेष में ही आयु का उत्कृष्ट प्रदेश बंध हो, ऐसा नहीं कहा है ।

मूल गाथा में भी आचार्य नेमीचन्द्रस्वामी ने कुल छह गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेश बंध कहा है । गाथा के शब्द हैं — “आउक्कस्सपदेसं छक्कं” याने आयु कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश बंध छह में होता है । छह का अर्थ छठा गुणस्थान उल्लंघ कर सातवा गुणस्थान नहीं है । बल्कि छह का अर्थ “कुल छह गुणस्थानों” की संख्या से है । जिसका अर्थ निकलता है कि आयु का उत्कृष्ट प्रदेश बंध कुल छह गुणस्थानों में होता है जो कि आयु बंध के मूल गुणस्थान ही हैं ।

दूसरी त्रुटि मोहनीय कर्म के स्वामी संबंधित है । टीका में मोहनीय के उत्कृष्ट प्रदेश बंध का स्वामी नवमे गुणस्थानवर्ती जीव को बताया गया है । अब मोहनीय के उत्कृष्ट प्रदेश बंध की सामग्री मात्र नवमे गुणस्थान में हो और अन्य गुणस्थानों में नहीं — ऐसा नहीं है । गाथा 210 के अनुसार जो उत्कृष्ट प्रदेश बंध की सामग्री है, वह सारी प्रथम गुणस्थान से लेकर नवमे गुणस्थान तक पायी जाती है । जब जीव उत्कृष्ट योग से युक्त हो, संज्ञी हो, पर्याप्त हो, आयु को छोड़कर सात कर्मों का बंध कर रहा हो तब वह मोहनीय के उत्कृष्ट प्रदेश बंध को करता है । अब ये सारी बातें प्रथम नौ गुणस्थानों में पायी जाती है अतः मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेश बंध मात्र नवमे गुणस्थान में कहने की बजाय प्रथम नौ गुणस्थानों में कहना चाहिए ।

इसी के प्रमाण हेतु महाबंध पुस्तक 6, पृष्ठ 14 में कहा है —

मोह० उक्क०पदे०बं० कस्स ? अण्ण० चदुगदियस्स पंचिंदियस्स सण्णि० मिच्छादिट्ठिस्स वा सम्मादिट्ठिस्स वा सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदस्स सत्तविधबंधयस्स उक्कस्सजोगिस्स उक्कस्सए पदेसबंधे वट्टमाणगस्स ।

अर्थ: मोहनीय के उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का स्वामी कौन है ? जो चारों गति का पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि जीव सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है, सात प्रकार के कर्मों का बन्ध कर रहा है, उत्कृष्ट योग वाला है और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कर रहा है, वह उक्त सात कर्मों के उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का स्वामी है ।

यहाँ स्पष्ट कहा है कि मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश बंध चारों गति के किसी भी सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि जीव के होता है । किसी गुणस्थान विशेष में ही मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेश बंध हो, ऐसा नहीं कहा है ।

पुनः यहाँ भी मूल गाथा में अर्थ में कोई विसंगति नहीं है । मूल गाथा के शब्द हैं — “मोहस्स णव दु ठाणाणि” अर्थात् मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेश बंध नौ स्थानों में होता है । नौ स्थान याने प्रथम गुणस्थान से लेकर नवमा गुणस्थान । गाथा में पद में भी बहुवचन दिया है जिससे काफी स्पष्ट होता है कि आचार्यदेवयहाँ गुणस्थान का क्रमांक नहीं, बल्कि संख्या बता रहे हैं फिर भी टीकाकार से कैसे इस प्रकार की भूल हुई, यह विचारणीय है ।

तब इस गाथा का युक्त अर्थ इस प्रकार बनता है — आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध छः गुणस्थानों में रहने वाला करता है । मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध प्रथम से नवमे गुणस्थानवर्ती जीव करता है । और शेष बचे ज्ञानावरणादि छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योग को धारण करने वाला सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान वाला जीव करता है । यहाँ सब जगह उत्कृष्ट योग द्वारा ही बंध जानना ॥ 211 ॥

## गाथा 286

इस गाथा में बताया है कि स्त्यानगृद्धि आदि 3 निद्राओं का उदय किसके होता है और उसमें भी इसका अपवाद कौन है ।

संखाउगणरतिरिए, इंद्रियपज्जत्तगादु थीणतियं ।

जोग्गमुदेदुं वज्जिय, आहारविगुव्वणुट्टवगे ॥ 286 ॥

टीका में दिया गया अर्थ है —

तु पुनः संख्यातवर्षायुष्के कर्मभूमिमनुष्यतिरश्चि इंद्रियपर्याप्तिरुपरि स्त्यानगृद्धित्रयमुदययोग्यं । तत्रापि मनुष्ये आहारकर्षिवैक्रियिकद्धर्यभावे एव ॥ २८६ ॥

इसकी भाषा टीका में लिखा है —

टीका— बहुरि संख्यात वर्ष की जिनकी आयु है, ऐसे जो कर्मभूमिया मनुष्य वा तिर्यच तिनही के इंद्रिय पर्याप्ति पूर्ण भए पीछे स्त्यानगृद्धयादिक तीन प्रकृति उदय योग्य हैं, तहां भी आहारक ऋद्धि अर वैक्रियिक ऋद्धि का धारक मनुष्य के स्त्यानगृद्धयादिक तीन प्रकृति उदय योग्य नहीं ॥२८६॥

इसकी हिंदी टीका में अर्थ किया है —

संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिया मनुष्यों और तिर्यचों में इंद्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् स्त्यानगृद्धि आदि तीन उदय होने के योग्य हैं । किन्तु मनुष्यों में भी आहारक-ऋद्धि और वैक्रियिक-ऋद्धि की उत्थापना करने के काल में स्त्यानगृद्धि आदि तीन का उदय नहीं होता ॥२८६॥

यहाँ तीन स्थानों पर इसके तीन अर्थ दिए हैं जिसमें से प्रथम और द्वितीय अर्थ लगभग समान ही है । प्रथम अर्थ में कहा है कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने पर कर्मभूमिया मनुष्य, तिर्यच के स्त्यानत्रिक का उदययोग्य होती हैं, उसमें भी जिस मनुष्य के आहारक और वैक्रियिक ऋद्धि नहीं है उसी के उदय-योग्य होती है । दूसरे अर्थ में कहा है कि आहारक और वैक्रियिक ऋद्धि के धारक मनुष्य को स्त्यानत्रिक उदय-योग्य नहीं होती है । यह दोनों ही अर्थ इन ऋद्धियों के अस्तित्व मात्र के होने पर स्त्यानत्रिक को उदय के अयोग्य मान रहे हैं । तीसरे अर्थ में मूल गाथा के अंत में दिए 'उट्ठवगे' पद को ध्यान में रखते हुए अर्थ किया है कि जो आहारक ऋद्धि और वैक्रियिक ऋद्धि का उत्थापना करने के काल में स्त्यानत्रिक प्रकृतियों का उदय संभव नहीं है । याने ये दो ऋद्धियाँ होने मात्र के कारण से ये प्रकृतियाँ उदय-अयोग्य हों, ऐसा नहीं बल्कि जब इन ऋद्धियों का प्रयोग हो रहा हो, उस काल में ये तीन प्रकृतियाँ उदय के अयोग्य होती हैं ऐसा अर्थ है । यह अर्थ मूल गाथा के अनुसार योग्य भी है अन्यथा 'उट्ठवगे' पद का अर्थ करना रह जाता है । अन्य कहीं ग्रंथों में इन ऋद्धियों के सद्भाव में तीव्र निद्राओं का अभाव रहता है ऐसा कोई नियम भी देखने में आता नहीं जिसके कारण से टीकाकार द्वारा निरूपित बात को मान लिया जाए ।

अतः यही फलित होता है कि ऋद्धियों के उत्थापन के काल में स्त्यानत्रिक उदय के योग्य नहीं हैं, शेष काल में उनका उदय ऋद्धिधारी मनुष्य के भी संभव है । विद्वान् इस पर विचार करें ।

### गाथा 302

इस गाथा की टीका में भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यच की उदय व्युच्छित्ति का वर्णन किया है । उसमें चतुर्थ गुणस्थान में उदय व्युच्छित्ति में 5 प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही है यथा —

**असंयते द्वितीयकषायचतुष्कं मनुष्यायुश्च ५ । .... असंयते द्वितीयकषायचतुष्कं तिर्यगायुश्च ५।**

अर्थात् भोगभूमिया मनुष्य के चतुर्थ गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय और मनुष्य आयु की उदय व्युच्छित्ति होती है । तथा भोगभूमिया तिर्यच के चतुर्थ गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय और तिर्यच आयु की उदय व्युच्छित्ति होती है ।

परन्तु यह कथन योग्य नहीं है । क्योंकि मनुष्य आयु और तिर्यच आयु तो चतुर्थ गुणस्थान में उदय व्युच्छिन्न नहीं होते हैं । मनुष्य आयु की उदय व्युच्छित्ति चौदहवे गुणस्थान में होती है और तिर्यच आयु की उदय व्युच्छित्ति पाँचवे गुणस्थान में होती है । (गाथा 272, 267)

यहाँ पर क्रमशः मनुष्य गत्यानुपूर्वी और तिर्यच गत्यानुपूर्वी की उदय व्युच्छित्ति कहनी चाहिए थी जो की चतुर्थ गुणस्थान में व्युच्छिन्न होती हैं । चतुर्थ गुणस्थान में उदय-व्युच्छित्ति की 17 प्रकृतियाँ हैं, जिनमें चार आनुपूर्वी कर्म शामिल हैं । भोगभूमिया मनुष्य के शेष 3 आनुपूर्वी तो उदय के अयोग्य ही हैं अतः शेष बची मनुष्य आनुपूर्वी कर्म की व्युच्छित्ति होती है । इसी प्रकार तिर्यच गति में भी जानना चाहिए ।

अतः यहाँ मनुष्यायु और तिर्यचायु ना कहकर क्रमशः मनुष्य आनुपूर्वी और तिर्यच आनुपूर्वी की उदय व्युच्छिति कहना चाहिए ।

### गाथा 328

इस गाथा की टीका में उपशम सम्यक्त्व में उदय-योग्य प्रकृतियों का विचार किया गया है । इसके अंतर्गत कुछ वाक्य विचारणीय हैं । यथा

तु शब्दाद्बद्धदेवायुष्का उपशमश्रेण्यवतरणेऽपूर्वकरणगुणस्थानावसाने म्रियंते तदा देवासंयता एव जायंते ततो न प्रथमोपशमसम्यक्त्वे नरकतिर्यग्मनुष्यानुपूर्व्योदयः । द्वितीयोपशमसम्यक्त्वेरपि देवायुर्विना ण शेषायुःसत्त्वं उपशमश्रेण्यारोहणार्थं सातिशयाप्रमत्तेनैव तत्सम्यक्त्वस्य स्वीकरणात् 'अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तु' इति नियमात् न तदानुपूर्व्यत्रयस्य सत्त्वं । तत उदयोऽपि न ।..

अर्थः 'तु' शब्द से जिन्होंने पूर्व में देवायु का बन्ध किया है वे उपशमश्रेणी से उतरने पर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त मरते हैं तो मरकर असंयत सम्यग्दृष्टि देव ही होते हैं । अतः प्रथमोपशम सम्यक्त्व में नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी और मनुष्यानुपूर्वी का उदय नहीं होता । द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में भी देवायु के बिना शेष आयु का सत्त्व नहीं होता; क्योंकि उपशमश्रेणि पर आरोहण करने के लिए सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव ही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को स्वीकार करता है । और अणुव्रत महाव्रत देवायु के सिवाय अन्य आयु का बन्ध करने वाले के होते नहीं, ऐसा नियम है । अतः उपशम सम्यक्त्व में देव बिना तीन आनुपूर्वी का सत्त्व नहीं होता । इसी से उदय भी नहीं होता ।

यहाँ कहा है कि “प्रथमोपशम सम्यक्त्व में नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी और मनुष्यानुपूर्वी का उदय नहीं होता ।” परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व में तो किसी भी आनुपूर्वी का उदय नहीं होता क्योंकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व में जीव का मरण नहीं होता । जैसा की इसी गाथा की टीका में उद्धृत कर्मकांड गाथा 560 में कहा है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व संयुक्त जीव मरण को प्राप्त नहीं होते हैं । अतः यह कहना चाहिए कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व में चारों ही आनुपूर्वी का उदय नहीं होता है ।

दूसरा तथ्य जो यहाँ प्रस्तुत किया है कि “उपशम सम्यक्त्व में देव बिना तीन आनुपूर्वी का सत्त्व नहीं होता । इसी से उदय भी नहीं होता ।” परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उपशम सम्यक्त्व में चारों ही आनुपूर्वी का सत्त्व पाया जाता है । देखिये गाथा 355 की टीका । आनुपूर्वी का सत्त्व उसके नहीं होता जिसने उसे नष्ट कर दिया है । अब नरक और तिर्यच आनुपूर्वी का क्षय क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती करता है, देव और मनुष्य आनुपूर्वी का क्षय अयोगकेवली गुणस्थान में होता है । अतः उपशम सम्यक्त्व में 3 आनुपूर्वी का सत्त्व नहीं है यह कहना ठीक नहीं है ।

यहाँ 3 आनुपूर्वी का सत्त्व तो है, परन्तु वह उदय योग्य नहीं रहती हैं । जिसका मूल कारण टीकाकार ने स्पष्ट रूप से कहा ही है । अतः उस कारण को ग्रहण करना चाहिए और इस वाक्य को छोड़ना चाहिए ।

## गाथा 343

इस गाथा में यह कहा है कि उपशम श्रेणी वाला जीव मोह की 21 प्रकृतियों का उपशमन किस प्रकार से करता है ।

खवणं वा उवसमणे, णवरि य संजलणपुरिसमज्झम्मि ।

मज्झिमदोहो कोहादीया कमसोवसंता हु ॥ 343 ॥

...तद्यथा— पुंवेदोपशमनानंतरं तन्नवकबंधेन समं मध्यमक्रोधद्वयमुपशमयति । तदनंतरं संज्वलनक्रोधमुपशमयति । तदनंतरं तन्नवकबंधेन समं मध्यममानद्वयमुपशमयति । तदनंतरं संज्वलनमानमुपशमयति । तदनंतरं तन्नवकबंधेन समं मध्यममायाद्वयमुपशमयति । तदनंतरं संज्वलनमायामुपशमयति । तदनंतरं तन्नवकबंधेन समं मध्यमलोभद्वयमुपशमयति । तदनंतरं संज्वलनबादरलोभमुपशमयति इति विशेषो मोहनीयस्यैव शेषकर्मणामुपशमनविधानाभावात् ।...

अर्थ: नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह और पुरुषवेद का क्रम से उपशम होता है । पीछे पुरुषवेद का उपशम करने के अनन्तर जो नवीन बन्ध हुआ उस सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध के युगल का उपशम करता है ।

तत्काल पुरुषवेद का जो नवीन बन्ध हुआ उसके निषेक पुरुषवेद का उपशमन करने के काल में उपशम करने योग्य नहीं हुए थे । क्योंकि अचलावली में कर्मप्रकृति को अन्यरूप परिणामाना अशक्य होता है । इससे पुरुषवेद के निषेक मध्यम क्रोधयुगल का उपशम करने के काल में उपशम किये जाते हैं । इसी प्रकार संज्वलन क्रोधादि के भी नवकबन्ध का स्वरूप जानना । अनन्तर संज्वलन क्रोध का उपशम करता है । उसके अनन्तर उस संज्वलन क्रोध के नवीनबन्ध सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान मान युगल का उपशम करता है । उसके अनन्तर संज्वलन मान का उपशम करता है । उसके अनन्तर संज्वलन मान के नवीनबन्ध सहित मध्यम अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान मायायुगल का उपशम करता है । उसके अनन्तर संज्वलन माया का उपशम करता है । उसके अनन्तर संज्वलन माया के नवीनबन्ध सहित मध्यम अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान लोभ को उपशमाता है । उसके अनन्तर बादर संज्वलन लोभ को उपशमाता है ।

यहाँ यह कहा है कि उपशम श्रेणी में कषायों के उपशमन का क्रम इस प्रकार है —

क्रम	प्रकृति
1	नपुंसक-वेद
2	स्त्री-वेद
3	6 नोकषाय, पुरुषवेद
4	पुरुषवेद का नवक बंध, 2 मध्यम क्रोध
5	संज्वलन क्रोध
6	क्रोध का नवक बंध, 2 मध्यम मान

7	संज्वलन मान
8	मान का नवक बंध, 2 मध्यम माया
9	संज्वलन माया
10	माया का नवक बंध, 2 मध्यम लोभ
11	बादर संज्वलन लोभ

यहाँ जो एक-एक संज्वलन कषाय के पूर्व 2 मध्यम कषायों को अलग से उपशमाने का कथन है, वह जयधवल, लब्धिसार आदि ग्रंथों के अनुसार योग्य नहीं है। वास्तव में संज्वलन कषाय के साथ ही 2 मध्यम कषाय का भी उपशमन कर दिया जाता है। देखिये लब्धिसार गाथा 269

पढमावेदो तिविहं कोहं उवसमदि पुव्वपढमठिदी ।  
समयाहियआवलियं जाव य तक्कालठिदिबंधो ॥२६९ ॥  
अन्वयार्थ - (पढमावेदो) प्रथम समयवर्ती अपगतवेदी (तिविहं कोह) तीन प्रकार के क्रोध को (उवसमदि) उपशमित करता है। (समयाहिय आवलियं जाव) एक समय अधिक आवलि शेष रहने तक (पुव्वपढमठिदि) पूर्व की ही प्रथम स्थिति रहती है (य) और (तक्कालठिदिबंधो) उस काल में स्थितिबन्ध (आगे गाथा में कहते हैं) ॥२६९॥

इसमें स्पष्ट कहा है कि पुरुष वेद के उपशमन के पश्चात् तीन प्रकार के क्रोध को उपशमित करता है अर्थात् संज्वलन क्रोध के साथ ही अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान क्रोध का भी उपशमन करता है। इसी के बाद आगे तीन मान, तीन माया, तीनलोभ के युगपत् उपशमन का भी कथन किया गया है। ऐसा ही जयधवल पुस्तक 13, पृष्ठ 292 पर भी कहा गया है। अतः वास्तविक उपशमन का क्रम ऐसा होता है

क्रम	प्रकृति
1	नपुंसक-वेद
2	स्त्री-वेद
3	6 नोकषाय, पुरुषवेद
4	पुरुषवेद का नवक बंध, 3 क्रोध
5	क्रोध का नवक बंध, 3 मान
6	मान का नवक बंध, 3 माया
7	माया का नवक बंध, 3 लोभ
8	सूक्ष्म लोभ



टीकाकार ने मूल गाथा में आये 'कमसोवसंता' का अर्थ करते हुए 2-2 मध्यम कषायें क्रमशः उपशमित होती है, उसके बाद संज्वलन कषाय उपशमित होती है ऐसा अर्थ किया है। परन्तु 'कमसोवसंता' का अर्थ है — संज्वलन और पुरुष वेद के मध्य में मध्य की 2-2 कषाय (संज्वलन क्रोध आदि के साथ) क्रमशः उपशमित होती हैं।

अतः मूल गाथा का वास्तविक अर्थ ऐसा बनता है: “उपशम के विधान में भी क्षपणा विधान की तरह क्रम जानना। परंतु विशेष बात यह है कि संज्वलन कषाय और पुरुषवेद के मध्य में बीच के जो अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान कषाय संबंधी दो-दो क्रोधादि हैं सो उनको संज्वलन क्रोधादि के साथ क्रम से उपशमन करता है ॥ 343 ॥”

### गाथा 354

यहाँ मार्गणाओं में सत्त्व-व्युच्छित्ति का कथन चल रहा है। उसमें टीकाकार ने वेद आदि एक-एक मार्गणाओं में सत्त्व व्युच्छित्ति का संपूर्ण वर्णन किया है। इसके प्रारंभ में वेद मार्गणा का कथन करते हुए लिखा है —

वेदमार्गणातः आहारमार्गणापर्यंतं स्वगुणोद्यः इति पुंवेदे सत्त्वमष्टचत्वारिंशत् शतं । गुणस्थानानि चतुर्दश । रचना गुणस्थानोक्तैव ।

अर्थः वेदमार्गणा से आहार मार्गणा पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थानवत् जानना। पुरुषवेद में सत्त्व एक सौ अड़तालीस। गुणस्थान चौदह। रचना गुणस्थानवत्।

यहाँ पुरुष वेद में 14 गुणस्थान कहे हैं परन्तु वेद मार्गणा नवमे गुणस्थान तक ही पायी जाती है। सर्वत्र आगम में वेद की अपेक्षा नौ ही गुणस्थान कहे हैं। धवल पुस्तक 2, पृष्ठ 672 में वेद मार्गणा में गुणस्थानों का कथन करते हुए लिखा है —

वेदानुवादेण अणुवादो जहा मूलोद्यो णीदो तथा णेद्वो । णवरि णव गुणट्टाणाणि त्ति वत्तद्धं; वेदे णिरुद्धे उवरिमगुणट्टाणाभावादो ।

अर्थः वेदमार्गणा के अनुवाद से कथन करने पर आलापों का कथन जैसा मूल ओघालाप में लिया गया है वैसा यहां पर भी लेना चाहिये। विशेष बात यह है कि यहां आदि के नौ गुणस्थान होते हैं ऐसा कहना चाहिए; क्योंकि वेदनिरुद्ध अवस्था में अर्थात् वेदों से युक्त रहने पर ऊपर के गुणस्थानों का अभाव है।

इसके अलावा स्वयं टीकाकार ने जीवकाण्ड के आलाप अधिकार के अंतर्गत वेद मार्गणा में सारे ही वेदों में नौ ही गुणस्थानों का कथन किया है। अतः यहाँ चौदह गुणस्थान कहना स्वल्पित प्रतीत होता है।

### गाथा 375

इस गाथा में सासादन एवं मिश्र गुणस्थान में सत्त्व स्थान और भंगों का कथन किया है।

साणे पण इगि भंगा, बद्धस्सियरस्स चारि दो चेव ।

मिस्से पणपण भंगा, बद्धस्सियरस्स चउ चउ णेया ॥375॥

अर्थ— सासादन गुणस्थान में बद्धायु स्थानों के पाँच और एक तथा अबद्धायु स्थानों के 4 और 2 भंग हैं । इस तरह चार स्थानों के 12 भंग जानना । मिश्रगुणस्थान में बद्धायुस्थान के पाँच-पाँच भंग और अबद्धायु स्थान के चार-चार भंग है । इस प्रकार आठ स्थानों के 36 भंग हुए ॥ 375 ॥

इन सब भंगों की उत्पत्ति टीकाकार ने बहुत विशद रूप से दर्शाई है । सासादन के 144 प्रकृतिक सत्त्व-स्थान के अबद्धायुष्क के दो भंगों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है —

तदबद्धायुष्के भुज्यमानमनुष्यायुष्कस्योपशमसम्यग्दृष्टेरर्जिताहारकचतुष्कस्थानंतानुबंध्युदयाञ्जात-सासादनस्यैको भंगः । प्राग्बद्धदेवायुष्कस्य मृत्वा जातभुज्यमानदेवायुष्कस्यैको भंगः, एवं द्वौ ।

इसकी भाषा टीका एवं हिंदी टीका में कहा है कि —

उसके अबद्धायुस्थान में दो भंग इस प्रकार हैं— भुज्यमान मनुष्यायुवाला उपशम सम्यग्दृष्टि आहारक-चतुष्क का बन्ध करके मरकर सासादन हुआ सो एक भंग तो यह हुआ । पूर्व में जिसके देवायु का बन्ध हुआ था ऐसा उपशम सम्यग्दृष्टि आहारक-चतुष्क का बन्ध करके मरकर देव हो सासादन हुआ । वहाँ भुज्यमान देवायु का सत्त्व होने से दूसरा भंग हुआ ।

यहाँ प्रथम भंग का हिंदी करते हुए कहा है कि “मनुष्य उपशम सम्यग्दृष्टि आहारक-4 का बंध करके मरकर सासादन को प्राप्त हुआ ।” परन्तु यहाँ पर मरण करवाना इष्ट नहीं है क्योंकि मरण हो जाएगा तो वह देवायु का भंग बनेगा, मनुष्यायु का नहीं । जबकि यहाँ दो भंगों में से प्रथम भंग मनुष्यायु के सत्त्व का है । संस्कृत टीका में भी मरण की कोई शर्त नहीं दी है । अतः यहाँ मरकर शब्द हटा लेना चाहिए । तो ऐसा भंग बनेगा — “भुज्यमान मनुष्य उपशम सम्यग्दृष्टि आहारक-4 का बंध करके सासादन को प्राप्त हुआ सो एक भंग यह हुआ ।”

दूसरे भंग का हिंदी करते हुए कहा है कि मनुष्य उपशम सम्यग्दृष्टि आहारक-4 का बंध करके मरकर देव हो सासादन हुआ । परन्तु यहाँ पहले सासादन को प्राप्त करके फिर मरण कहना है । क्योंकि प्रथम भंग के ही बद्धायुष्क जीव ने मरण करके देव होकर 144 का देवायु के साथ भंग प्राप्त किया । वैसे भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व में मरण होता भी नहीं है इसलिए मनुष्य अवस्था में ही सासादन प्राप्त कर; फिर मरणकर देवायु को प्राप्त करने पर दूसरा भंग होता है । यद्यपि द्वितीयोपशम के साथ मरणकर देव होकर सासादन संभव है परन्तु वह प्रधान व्याख्यान नहीं है । और यहाँ टीका में वैसा कहा भी नहीं है ।

अतः इसका हिंदी अर्थ ऐसा करना चाहिए — “पूर्व में जिसे देवायु का बंध हुआ था ऐसा मनुष्य उपशम सम्यग्दृष्टि आहारक-4 का बंध करके सासादन होकर मरकर देव हुआ । वहाँ भुज्यमान देवायु का सत्त्व होने दूसरा भंग हुआ ।”

## गाथा 404-405

इन गाथाओं में निरंतर बंधी और सांतर बंधी प्रकृतियों का कथन किया गया है। निरंतर बंधी प्रकृतियाँ 54 हैं जिनमें ध्रुवबंधी 47 प्रकृतियाँ शामिल हैं। 47 ध्रुवबंधी प्रकृतियों को बताते हुए टीकाकार ने उन्हें ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ कह दिया है जबकि ये प्रकृतियाँ मात्र ध्रुवबंधी हैं, ध्रुवोदयी नहीं। टीका इस प्रकार है

पंचज्ञानावरणनवदर्शनावरणपंचांतरायमिथ्यात्वषोडशकषायभयद्विकतैजसद्विकागुरुलघुद्विकनिर्माणवर्ण-  
चतुष्काणोति सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवोदयाः ।

अर्थ: पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, अगुरुलघुद्विक, निर्माण, वर्णादि चार, ये सैंतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवोदयी हैं, अपनी-अपनी व्युच्छिति पर्यन्त सदा इनका उदय पाया जाता है।

इसकी भाषा टीका में इसे ध्रुवोदयी और ध्रुवबंधी दोनों ही नाम दे दिए हैं। हिंदी टीका में मात्र ध्रुवोदयी रखा है। परन्तु जैसा कि प्रकृतियों को देखने से ही स्पष्ट है कि ये ध्रुव प्रकृतियाँ बंध संबंधी हैं, उदय संबंधी नहीं। क्योंकि कभी भी सारी निद्राओं का एक साथ उदय संभव नहीं है (गाथा 461), भय-जुगुप्सा भी वैकल्पिक उदय वाली प्रकृतियाँ हैं (गाथा 477), उपघात का उदय विग्रह गति में नहीं होता (गाथा 588)।

मूल गाथा में 'सत्तेताल ध्रुवावि' शब्द दिया है जिसका अर्थ है 47 ध्रुव (बंधी) प्रकृतियाँ। अतः यहाँ ध्रुवोदयी ना कहकर ध्रुवबंधी कहना चाहिए।

## गाथा 406-7

इन गाथाओं में सांतर-निरंतर संबंधी 32 प्रकृतियों को बताया गया है। सांतर-निरंतर प्रकृति की परिभाषा है — “जहाँ प्रतिपक्षी प्रकृति पायी जाती है, वहाँ विवक्षित प्रकृति सांतर बंधी है, प्रतिपक्ष का अभाव होने पर निरंतर बंधी है”। अर्थात् जब किसी प्रकृति की प्रतिपक्ष प्रकृति बंधना संभव होती है, तब विवक्षित प्रकृति सांतर कहलाती है क्योंकि उसका निरंतर बंध संभव नहीं है। लेकिन जैसे ही किसी कारण से (गुणस्थान विशेष, गति विशेष आदि) प्रतिपक्षपना समाप्त हो जाता है और प्रकृति निरंतर बंधने लगती है, तब विवक्षित प्रकृति निरंतर बंधी कहलाती है। इस प्रकार की प्रकृतियों की संज्ञा सांतर-निरंतर प्रकृति है।

टीकाकार ने सांतर-निरंतर प्रकृतियों में एक ऐसी भी प्रकृति ले ली है जो सांतर-निरंतर प्रकृति नहीं है। यथा —

आतपः मिथ्यादृष्टावपर्याप्तबंधे पर्याप्तेन निःप्रतिपक्षः ।

अर्थ: आतप मिथ्यादृष्टि में अपर्याप्त का बन्ध होते सप्रतिपक्षी है क्योंकि अपर्याप्त का बन्ध होने पर इसका बन्ध नहीं होता। पर्याप्त के साथ अप्रतिपक्षी है।

यहाँ आतप प्रकृति को सांतर-निरंतर प्रकृति सिद्ध किया गया है परन्तु यह योग्य नहीं है । क्योंकि अपर्याप्त के बंधते हुए आतप प्रकृति का बंध नहीं होता, यह तो सत्य है परन्तु जब पर्याप्त प्रकृति का बंध होता है अब आतप का बंध हो ही, यह कोई जरूरी नहीं है । पर्याप्त प्रकृति के साथ आतप का बंध भजनीय है । इसलिए आतप निरंतर बंधी सिद्ध नहीं होती । इसके अलावा कोई ऐसी स्थिति विशेष भी नहीं है जहाँ आतप प्रकृति का निरंतर बंध होता ही हो । तीसरे, ग्रंथकार ने आतप प्रकृति को सांतर बंधी प्रकृति पहले ही कह दिया है । देखिये गाथा 405

दुग्गमणादावदुगं थावरदसगं असादसंढित्थि ।

अरदीसोगं चेदे सांतरगा होंति चोत्तीसा ॥ 405 ॥

अर्थ-...अप्रशस्तविहायोगति, आतप-उद्योत, स्थावर आदि 10, असातावेदनीय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक— ये 34 प्रकृतियाँ सांतरबंधी हैं । ॥ 405 ॥

चौथा, यदि आतप को सांतर-निरंतर में भी गिना जाए, तो सांतर-निरंतर प्रकृतियों की संख्या 32 होने के बजाय 33 हो जायेगी जो कि मूल गाथा के विरुद्ध है ।

इसलिए यहाँ आतप प्रकृति को सांतर-निरंतर प्रकृतियों में नहीं गिनना चाहिए ।

ये प्रथम चार अधिकार से संबंधित विश्लेषण हैं । इनमें जो आगमानुसार योग्य नहीं हो, उसे कृपया सूचित करें ताकि लेख को सुधार जा सके ।

- विकास जैन (छाबड़ा), इंदौर | [vikasnd@gmail.com](mailto:vikasnd@gmail.com) | 7000676108